



श्री धर्मपालजी (जन्म-काधला, मुजफ्फरनगर, १९२२) ने लाहौर में शिक्षा पाने के साथ स्वाधीनता आन्दोलन में भाग लिया। मीरा बेन द्वारा रुडकी एवं ऋषिकेश के बीच स्थापित 'पशुलोक' एवं 'बापुग्राम' से सम्बद्ध रहने के बाद 'एसोसिएशन ऑफ वालण्टरी आर्गेनाइजेशन्स ऑफ रुरल डेवलपमेण्ट' (अवार्ड, दिल्ली) के महासचिव और निदेशक (१९५८-

१९६४) रहे। फिर अखिल भारतीय पंचायत परिषद के शोध विभाग का कार्य देखते (१९६४-६५) रहे। वर्तमान में धर्मपालजी भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के सदस्य और राष्ट्रीय गौपशु आयोग के अध्यक्ष हैं।

श्री धर्मपालजी ने गत पचीस-तीस वर्ष अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में इतिहास द्वारा उपेक्षित भारतीय समाज की शक्तियों-कमियों की खोज करने में लगाये हैं और देश-विदेश के अभिलेखागारों-ग्रन्थागारों से प्रभूत प्रमाण एकत्र किये हैं जिनसे अंग्रेजी शासन से पूर्व भारतीय समाज की एक ऐसी तस्वीर का पता चलता है जो आज के भारतीय मन में अंकित तस्वीर के सर्वथा विपरीत है।

श्री धर्मपाल के प्रकाशित ग्रन्थ हैं -

सिविल डिसओबीडिएन्स एण्ड इन्डियन ट्रेडीशन

इण्डियन साइन्स एण्ड टेक्नॉलॉजी इन द एटीन्थ सेन्चुरी

डेस्पोलियेशन एण्ड डिफेमिंग ऑफ इण्डिया

द मद्रास पंचायत सिस्टम

द ब्यूटीफुल ट्री

अंग्रेजों से पहले का भारत

भारतीय चित्त, मानस और काल

भारत का स्वधर्म

स्वदेशी और भारतीयता

अंग्रेजी की सभी पुस्तकें अभी हाल में अदर इण्डिया प्रेस, गोवा से पुनः प्रकाशित हुई हैं। हिन्दी में भी शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रही हैं।

: प्रकाशक :
भारत पीठम्

भारतीय चित्त, मानस और काल

धर्मपाल

भारतीय चित्त, मानस और काल

वृन्त राव लोधी ए. ए. डिग्री

जुलै १९३९

भारत की संस्कृति

चलका संस्कृति

धर्मपाल

१९३९

१९३९

भारत की संस्कृति

१९३९

१९३९

भारतीय दृष्टिकोण से

लक्षणा

१९३९

१९३९

१९३९

१९३९

१९३९

१९३९

१९३९

प्रकाशक

भारत पीठम

१९३९

भारतीय चित्त, मानस और काल

सर्वाधिकार लेखक के पास

लेखक : धर्मपाल

पहला संस्करण : 2000 प्रतियां (मई 2000)
दूसरा संस्करण : 2000 प्रतियां (मार्च 2002)
तीसरा संस्करण : 5000 प्रतियां (जुलाई 2002)

प्रकाशक
भारत पीठम
चांडक निवास
शास्त्री चौक, बेचलर रोड
वर्धा - ४४२००१
फोन : (०७१५२) ४२८५१, ८४४४१

सहयोग राशि : १० रुपये

मुद्रण : कॉन्फीसेक प्रिन्टर्स, अहमदाबाद

उन सब लोगों के लिए
जो
भारत की संस्कृति
उसकी सभ्यता
और
उसकी प्रकृति को
भारतीय दृष्टिकोण से
समझना चाहते हैं।

विषय – सूची

१.	यह बीसवीं-इक्कीसवीं सदी है किसकी !!	5
२.	अपना अध्ययन भी विदेशी निगाह से	12
३.	महत्व सही जवाब का नहीं, सही सवाल का है	20
४.	अपने चित्त को समझे बिना हमारा काम नहीं चलेगा	27
५.	हम किसी और के संसार में रहने लगे हैं	34
६.	सभ्यताओं का नवीनीकरण तो करना ही होता है	41

यह बीसवीं-इक्कीसवीं सदी है किसकी !!

गाँधीजी ६ जनवरी, १९१५ को अपने दक्षिण अफ्रीका प्रवास से वापस देश लौटे। रास्ते में वे ब्रिटेन में भी रुके थे। उसके बाद, बर्मा और श्रीलंका की बात छोड़ दें तो वे केवल एक बार विदेश गए – १९३१ की वह यात्रा ब्रिटेन जाने के लिए ही थी। पर भारत से जाते और यहाँ लौटते हुए वे मिस्र, फ्रांस, स्विट्जरलैंड और इटली में भी कुछ-कुछ दिन ठहरते गए। अमेरिका वाले तब बहुत चाहते रहे कि गाँधीजी वहाँ भी आएँ। लेकिन उनका अमेरिका जाना नहीं हो पाया।

१९१५ में गाँधीजी के मुंबई उतरने से पहले ही देश में उनसे बहुत बड़ी उम्मीदें लगाई जाने लगी थीं। उस समय के संपादकीय आलेखों से लगता है कि उन्हें कुछ अवतार-पुरुष सा समझा जाने लगा था। मुंबई में गाँधीजी और कस्तूरबा का जैसा स्वागत हुआ, वैसा उस नगर की स्मृति में पहले किसी का नहीं हुआ था – ऐसा उन दिनों के समाचारपत्रों का कहना है। मुंबई के बड़े-बड़े घरों में गाँधीजी और कस्तूरबा के सम्मान व स्वागत में अनेक भोज हुए। उन भोज-समारोहों में मुंबई हाईकोर्ट के कई न्यायाधीश और मुंबई के गवर्नर की परिषद के सदस्य भी पहुँचे। मुंबई के सम्पन्न समाज के प्रमुख लोग और बड़े-बड़े उद्योगपति तो उन भोजों में उपस्थित थे ही।

पर तीन दिन में ही गाँधीजी और कस्तूरबा इस सबसे ऊब गए। १२ जनवरी को हुए एक बड़े स्वागत समारोह में गाँधीजी ने अपनी उकताहट सबके सामने प्रकट कर ही डाली। इस समारोह में ६०० से अधिक अतिथि आए थे, और फीरोजशाह मेहता स्वयं इसके अध्यक्ष थे। समारोह में बोलते हुए गाँधीजी ने कहा कि उन्होंने सोचा था कि देश आकर उन्हें दक्षिण अफ्रीका से कहीं अधिक आत्मीयता का अनुभव होगा। लेकिन पिछले तीन दिनों से मुझे और कस्तूरबा को लग रहा है कि दक्षिण अफ्रीका के भारतीय

मजदूरों के बीच जीवन अधिक आत्मीय था। यहाँ तो हम अपने को कुछ पराए—से लोगों के बीच ही पा रहे हैं।

उसके बाद गाँधीजी का रहन—सहन बदलता ही चला गया। उनके कार्यक्रम भी बड़े लोगों के भोज—समारोहों से हटकर अधिकतर साधारण लोगों के बीच होने लगे। और देश के साधारणजन के मानस में उनकी ऐसी पैठ हुई कि जनवरी के अंतिम सप्ताह में, उनके मुंबई उतरने के एक पखवाड़े के भीतर, सौराष्ट्र में लोग उन्हें 'महात्मा' कहकर संबोधित करने लगे। उसके केवल तीन महीने बाद, लगभग एक हजार मील दूर, हरिद्वार के पास गुरुकुल कांगड़ी में भी उन्हें 'महात्मा' कहा जा रहा था।

तब से लेकर अगले पच्चीस—तीस बरस तक देश में सघन आत्म—विश्वास की एक लहर चलती रही। लोगों को शायद ऐसा आभास होता रहा कि उनके कष्टों का निवारण करने के लिए, पृथ्वी का बोझ घटाने के लिए, और जीवन को फिर से संतुलित करने के लिए, एक अवतार—पुरुष उनके बीच उपस्थित है। अधिकांश भारतीयों ने उन्हें कभी देखा भी नहीं होगा। बहुतों ने उनके रहन—सहन व काम—काज के तरीकों को कभी सही भी नहीं माना होगा। और शायद भारत के अधिकतर लोग १९४५—४६ तक भी यही मानते रहे होंगे कि गाँधीजी जो स्वतंत्रता संग्राम चला रहे थे, उसके सफल होने की कोई संभावना नहीं है। लेकिन फिर भी शायद सभी भारतीयों को उनमें एक अवतार—पुरुष और एक दिव्य आत्मा के दर्शन होते रहे।

पृथ्वी के कष्टों का निवारण करने के लिए अवतार—पुरुष जन्म लिया करते हैं, यह मान्यता भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन समय से चली आ रही है। रामायण, महाभारत और पुराणों के रचना—काल से तो ऐसा माना ही जा रहा है। द्वापर का अंत आते—आते धर्म का इतना हास होता है कि पृथ्वी अपने ऊपर के बोझ से पीड़ित होकर विष्णु से इस बोझ को किसी प्रकार हल्का करने की प्रार्थना करती है। तब देवों की ओर से एक बड़ी व्यूह रचना होती है और विष्णु स्वयं श्रीकृष्ण आदि के रूप में पृथ्वी पर उतरते हैं। महाभारत का युद्ध पृथ्वी के बोझ को हल्का करने की इसी प्रक्रिया का एक उदाहरण है। ललित—विस्तर आदि बौद्ध—चरितों में गौतम बुद्ध के पृथ्वी पर अवतरण के भी ऐसे ही कारण दिए गए हैं। इसी प्रकार समय—समय के

प्रश्नों के समाधान के लिए अनेक अवतार होते रहते हैं।

इसलिए १९१५ में भारत के लोगों ने सहज ही यह मान लिया कि भगवान् ने उनका दुःख समझ लिया है, और उस दुःख को दूर करने के लिए व भारतीय जीवन में एक नया संतुलन लाने के लिए महात्मा गाँधी को भेजा गया है। गाँधीजी के प्रयासों से भारतीय सभ्यता की दासता, का दुःख बहुत कुछ कट ही गया। लेकिन भारतीय जीवन में कोई संतुलन नहीं आ पाया। गाँधीजी १९४८ के बाद जीवित रहते तो भी इस नए संतुलन के लिए तो कुछ और ही प्रयत्न करने पड़ते।

जो काम महात्मा गाँधी पूरा नहीं कर पाए उसे पूरा करने के प्रयास हमें आगे—पीछे तो आरंभ करने ही पड़ेंगे। आधुनिक विश्व में भारतीय जीवन के लिए भारतीय मानस व काल के अनुरूप कोई नया संतुलन ढूँढ़े बिना तो इस देश का बोझ हल्का नहीं हो पाएगा। और उस नए ठोस धरातल को ढूँढ़ने का मार्ग वही है जो महात्मा गाँधी का था। इस देश के साधारणजन के मानस में पैठकर, उसके चित्त व काल को समझकर ही, इस देश के बारे में कुछ सोचा जा सकता है।

गाँधीजी के लिए यह समझ और पैठ सहज ही थी। हमें उसे पाने के लिए अनेक बौद्धिक प्रयत्न करने पड़ेंगे। पर हमें यह जानना तो पड़ेगा ही कि इस देश के साधारणजन इसे किस दिशा में ले जाना चाहते हैं? वर्तमान की उनकी समझ क्या है? भविष्य का कैसा प्रारूप उनके मन में है? जिन साधारण लोगों के बल पर इस देश को एक नया संतुलन दिया जाना है, इस देश को बनाया जाना है, वे लोग हैं कौन? उनका स्वभाव क्या है? उनकी आदतें कैसी हैं? उनकी प्राथमिकताएं क्या हैं? इच्छाएँ—आकांक्षाएँ क्या हैं? वे अपने बारे में क्या मानते हैं? और संसार को कैसे देखते हैं? या फिर वे भगवान् को नहीं मानते, तो किसे मानते हैं? काल को मानते हैं? दैव को मानते हैं? या कुछ और ही उनके मन में है क्या? जनसाधारण की अच्छे जीवन की कल्पना के अनुरूप और उनके सहयोग से इस देश को कुछ बनाना है तो यह सब तो जानना ही पड़ेगा।

लेकिन अपने लोगों के चित्त व मानस को समझने की यह बात लगता है हमें अच्छी नहीं लगती। गाँधीजी का भारत के साधारणजन के

साथ एकाकार होकर उन्हीं के चित्त की बात को शब्द देते जाना भी हम भद्रजनों को कभी सुहाता नहीं था। भारतीय चित्त व मानस से हमें डर-सा लगता है। हम यह मानकर चलना चाहते हैं कि भारतीय मानस कुछ है ही नहीं। वह तो एक साफ स्लेट है, जिस पर हम भद्र लोगों को आधुनिकता से सीखकर एक नया आलेख लिखना है।

पर शायद हमें यह आभास भी है कि भारतीय चित्त वैसा साफ-सपाट नहीं है, जैसा मानकर हम चलना चाहते हैं। वास्तव में तो वह सब विषयों पर सब प्रकार के विचारों से अटा पड़ा है। और वे विचार कोई नए नहीं हैं। वे सब पुराने ही हैं। शायद ऋग्वेद के समय से वे चले आ रहे हैं। या शायद गौतम बुद्ध के समय से कुछ विचार उपजे होंगे, या फिर महावीर के समय से। पर जो भी ये विचार हैं, जहाँ से भी वे आए हैं, वे भारतीय मानस में बहुत गहरे पैठे हुए हैं। और शायद हम यह बात जानते हैं। लेकिन हम इस वास्तविकता को समझना नहीं चाहते। इसे किसी तरह नकार कर, भारतीय मानस व चित्त की सभी वृत्तियों से आँखे मूँदकर, अपने लिए कोई एक नई दुनिया हम गढ़ लेना चाहते हैं।

इसलिए अपने मानस को समझने की सभी कोशिशें हमें बेकार लगती हैं। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के भारत के इतिहास का मेरा अध्ययन भी भारतीय मानस को समझने का एक प्रयास ही था। उस अध्ययन से अंग्रेजों के आने से पहले के भारतीय राज-समाज की, भारत के लोगों के सहज तौर-तरीकों की एक समझ तो बनी। समाज की जो भौतिक व्यवस्थाएँ होती हैं, विभिन्न तकनीकें होती हैं, रोजमर्रा का काम चलाने के जो तरीके होते हैं, उनका एक प्रारूप-सा तो बना, पर समाज के अंतर्मन की, उसके मानस की, चित्त की कोई ठीक पकड़ उस काम से नहीं बन पाई। मानस को पकड़ने का, चित्त को समझने का मार्ग शायद अलग होता है।

पर भारतीय राज-समाज की भौतिक व्यवस्थाओं को समझने का मेरा वह प्रयास भी अधिकतर लोगों को विचित्र ही लगा था। १९६५-६६ में जब मैंने अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के दस्तावेजों को देखना शुरू किया तो दिल्ली के एक मित्र ने कहा "भई तुम ये क्या गड़े मुर्दे उखाड़ने लगे हो ?

कुछ ढंग का काम क्यों नहीं करते ?" और बहुत लोगों ने कहा कि आप अठारहवीं सदी की ये जो बातें करते हैं वे माना कि ठीक हैं। उस समय भारत में खेती अच्छी होती होगी। बढ़िया लोहा बनता होगा। लोगों को चेचक आदि से बचाव के टीके लगाना आता होगा। प्लास्टिक सर्जरी होती होगी। लोगों की राज-समाज की अपनी सक्षम व्यवस्थाएँ रही होंगी। पंचायत रही होंगी। यह सब सुनकर तो अच्छा ही लगता है। इन बातों से आत्म-विश्वास और आत्म-गौरव का भाव भी शायद देश में कुछ-कुछ जागता हो, पर आजकल के संदर्भ में तो ये कोई बहुत काम की बातें नहीं हैं। यह सब जानकारी आज किस काम आने वाली है ? यह सब जानने का लाभ क्या है ? ऐसा अक्सर लोग पूछते रहते हैं।

इसी तरह का सवाल श्री चंद्रशेखर ने उठाया था। उनके घर में गया था। वे पूछने लगे आप यह अठारवीं सदी को लेकर क्या बैठे हैं ? अब तो बीसवीं-इक्कीसवीं की बात होनी चाहिए। और भी बहुत से अनुभवी व परिचित लोग यही बात और अधिक जोर देकर करते रहते हैं। लगता है हम जैसे सभी भारतीय ही किसी तरह बीसवीं-इक्कीसवीं सदी में पहुँचने की बातें करने लगे हैं।

पर यह बीसवीं-इक्कीसवीं सदी है किसकी ? हमारी तो यह सदी नहीं है। भारत के जो साधारण लोग हैं, जिनकी अवस्था देखकर हम दुःखी होते रहते हैं और जिनकी भलाई के नाम पर यह सब ताम-ड्राम चलता है, उनकी तो यह सदी नहीं है। जवाहरलाल नेहरू की मानें तो वे साधारण लोग तो अभी सत्तरहवीं-अठारहवीं सदी में ही रह रहे हैं। जवाहरलाल नेहरू ऐसा कहा करते थे, और वे इस बात को लेकर बहुत परेशान थे कि अपने लोग अठारहवीं सदी से बाहर निकल ही नहीं रहे, बीसवीं में आ नहीं रहे।

पर वे साधारणजन तो शायद पश्चिम की अठारहवीं सदी में भी न हों। हो सकता है कि वे अभी किसी पौराणिक युग में ही रहे हों। काल और युग की अपने यहाँ जो कल्पना है, उसी दृष्टि से वर्तमान को देख रहे हों। कलियुग में रहते हुए किसी अवतार-पुरुष के आने की अपेक्षा में हों। उनकी मान्यताओं के अनुसार तो पश्चिम की इस बीसवीं सदी में ही महात्मा गाँधी

के रूप में एक अवतार—पुरुष यहाँ आए भी थे। पर शायद उन्हें किसी दूसरे—तीसरे के आने की उम्मीद है, और शायद उसी की बातों में वे मग्न हों।

अगर यह सच है कि इस देश के साधारण लोग तो अपनी पौराणिक कल्पना के कलियुग में ही रह रहे हैं तो इसी कलियुग को समझने की कोशिश करनी पड़ेगी। बीसवीं सदी का राग अलापते रहने से तो हमारा काम नहीं चल पाएगा। हमारे लोग इस सदी में नहीं हैं तो यह अपनी सदी है ही नहीं। वैसे भी यह पश्चिम की ही सदी है। हो सकता है जापान वालों को भी कुछ—कुछ अपनी ही सदी लगती हो, पर मुख्य रूप से तो यह यूरोप और अमेरिका की ही सदी है। और क्योंकि, हम यूरोप या अमेरिका या जापान के साथ अपने संपर्क को तोड़ नहीं सकते, इसलिए उनकी इस बीसवीं सदी को भी शायद कुछ समझना पड़ेगा। पर यह समझना तो अपने साधारण लोगों की दृष्टि से ही होगा न? अपने काल के आधार पर ही दूसरों के काल को समझा जाएगा न? समझने की प्रक्रिया का यह सामान्य क्रम उलटा तो नहीं जा सकता। हमें तो कलियुग की दृष्टि से ही बीसवीं सदी को समझना पड़ेगा, बीसवीं सदी की दृष्टि से कलियुग को समझना तो हो ही नहीं सकता।

हममें से कुछ लोग शायद मानते हों कि वे स्वयं भारतीय मानस, चित्त व काल की सीमाओं से सर्वथा मुक्त हो चुके हैं। अपनी भारतीयता को लॉंघकर वे पश्चिमी आधुनिकता या शायद किसी प्रकार की आदर्श मानवता के साथ एकात्म हो गए हैं। ऐसे कोई लोग हैं तो उनके लिए बीसवीं सदी की दृष्टि से कलियुग को समझना और भारतीय कलियुग को पश्चिम की बीसवीं सदी के रूप में ढालने के उपायों पर विचार करना संभव होता होगा। पर ऐसा अक्सर हुआ नहीं करता। अपने स्वाभाविक देश—काल की सीमाओं—मर्यादाओं से निकलकर किसी और के युग में प्रवेश कर जाना असाधारण लोगों के बस की भी बात नहीं होती। जवाहरलाल नेहरू जैसे से भी नहीं हो पाया होगा। अपनी सहज भारतीयता से पूरी तरह मुक्त वे भी नहीं हो पाए होंगे। महात्मा गाँधी के कहने के अनुसार भारत के लोगों में जो एक तर्कातीत और विचित्र—सा भाव है, उस विचित्र तर्कातीत का शिकार होने से जवाहरलाल नेहरू भी नहीं बच पाए होंगे। फिर बाकी लोगों की तो बात ही क्या है। वे तो भारतीय मानस की मर्यादाओं से बहुत दूर जा ही नहीं

पाते होंगे।

भारत के बड़े लोगों ने आधुनिकता का एक बाहरी आवरण सा जरूर ओढ़ रखा है। पश्चिम के कुछ संस्कार भी शायद उनमें आए हैं। पर चित्त के स्तर पर वे अपने को भारतीयता से अलग कर पाए हों, ऐसा तो नहीं लगता। हाँ, हो सकता है कि पश्चिमी सभ्यता के साथ अपने लंबे और घनिष्ठ सम्बन्ध के चलते कुछ दस—बीस—पचास हजार, या शायद लाखों लोग, भारतीयता से बिल्कुल दूर हट गए हों। पर यह देश तो दस—बीस—पचास हजार या लाख लोगों का नहीं है। यह तो अस्सी करोड़ लोगों की कथा है।

भारतीयता की मर्यादाओं से मुक्त हुए ये लाखों आदमी जाना चाहेंगे तो यहाँ से चले ही जाएँगे। देश अपनी अस्मिता के हिसाब से, अपने मानस, चित्त व काल के अनुरूप चलने लगेगा तो हो सकता है इनमें से भी बहुतेरे फिर अपने सहज चित्त—मानस में लौट आएँ। जिनका भारतीयता से नाता पूरा टूट चुका है, वे तो बाहर कहीं भी जाकर बस सकते हैं। जापान वाले जगह देंगे तो वहाँ जाकर रहने लगेंगे। जर्मनी में जगह हुई तो जर्मनी में रह लेंगे। रूस में कोई सुंदर जगह मिली तो वहाँ चले जाएँगे। अमेरिका में तो वे अब भी जाते ही हैं। दो—चार लाख भारतीय अमेरिका जाकर बसे ही हैं। और उनमें बड़े—बड़े इंजीनियर, डॉक्टर, दार्शनिक, साहित्यकार, विज्ञानविद् और अन्य प्रकार के विद्वान भी शामिल हैं।

पर इन लोगों का जाना कोई बहुत मुसीबत की बात नहीं है। समस्या उन लोगों की नहीं जो भारतीय चित्त व काल से टूटकर अलग जा बसे हैं। समस्या तो उन करोड़ों लोगों की है जो अपने स्वाभाविक मानस व चित्त के साथ जुड़कर अपने सहज काल में रह रहे हैं। इन लोगों के बल पर देश को कुछ बनाना है तो हमें उस सहज चित्त, मानस व काल को समझना पड़ेगा। और भारतीय वर्तमान के धरातल से पश्चिम की बीसवीं सदी का क्या रूप दिखता है, उस बीसवीं सदी और अपने कलियुग में कैसा और क्या संपर्क हो सकता है, इस सब पर विचार करना पड़ेगा। यह तभी हो सकता है जब हम अपने चित्त व काल को, अपनी कल्पनाओं व प्राथमिकताओं को, और अपने सोचने—समझने व जीने के तौर—तरीकों को ठीक से समझ लेंगे।

अपना अध्ययन भी विदेशी निगाह से

सहज भारतीय, चित्त, मानस व काल को समझने के कई मार्ग हैं। अठारहवीं सदी के स्वदेशी राज-समाज को समझने का मेरा प्रयास एक मार्ग था। उस मार्ग से मानस तो शायद पकड़ में नहीं आता, पर उस मानस की विभिन्न भौतिक व्याप्तियों की कुछ समझ तो बनती है। सहज भारतीय तौर-तरीकों और व्यवस्थाओं का कुछ अनुमान होता है।

अपने साधारण लोगों को जानना, वे कैसे जीते हैं, किस प्रकार की बातें करते हैं, अलग-अलग परिस्थितियों से कैसे निपटते हैं, कैसा व्यवहार करते हैं, यह सब देखने-समझने की कोशिश करना भारतीय मानस, चित्त व काल को पकड़ने का एक और मार्ग है। पर यह शायद कुछ कठिन रास्ता है। हम सोचने-समझने वाले लोग फिलहाल अपनी जड़ों से इतने उखड़े हुए हैं कि अपने लोगों की बातों को उन्हीं की दृष्टि से समझ पाना शायद अभी हमसे बन न पाए।

भारतीय मानस को समझने के लिए अपने प्राचीन साहित्य को तो समझना ही पड़ेगा। यहाँ का असीम साहित्य, जो भारतीय सभ्यता का आधार रही है, और जिससे अपने यहाँ की प्रज्ञा और व्यवहार नियमित होते रहे हैं, उसे जाने बिना भारतीय मानस को जानने की बात चल नहीं सकती। ऋग्वेद से लेकर अपना जितना साहित्य है, उपनिषद् हैं, पुराण हैं, महाभारत और रामायण हैं, या बौद्ध और जैन साहित्य हैं, या फिर आयुर्वेद, शिल्पशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र व धर्मशास्त्र जैसे व्यावहारिक विषयों की जो विभिन्न संहिताएँ हैं, उन सबकी एक समझ तो हमें बनानी ही पड़ेगी। इस सारे साहित्य से इस देश के मानस का, और उसकी विभिन्न राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक व तकनीकी व्याप्तियों का क्या चित्र उभरता है, और वह चित्र समय-समय पर कैसे बदलता-सँवरता रहा है, इसका एक मोटा अनुमान तो हमें करना ही पड़ेगा। ऐसे किसी अनुमान के बिना अपने को समझने की प्रक्रिया आरंभ ही नहीं हो सकती। कम-से-कम बुद्धि पर आधारित प्रक्रियाएँ तो

ऐसे ही चला करती हैं। ज्ञानातीत कोई रास्ता हो तो उसकी बात अलग है।

अपने सारे पुराने साहित्य को देख-समझकर अपने चित्त व काल की एक तस्वीर बनाने, और उस तस्वीर में आधुनिक विश्व और उसकी वृत्तियों को उपयुक्त स्थान देने का काम हम कर नहीं पा रहे हैं। ऐसा नहीं है कि भारत के पुराने साहित्य पर कोई काम हो ही न रहा हो। अनेक भारतीय विद्या संस्थान विशेष तौर पर भारतीय ग्रंथों को देखने-समझने के लिए बने हैं, और अनेक ऊँचे विद्वान लंबे समय से इस काम में लगे हैं। पर जो काम हो रहा है वह तो जो होना चाहिए था, उससे ठीक उल्टा है। अपनी दृष्टि से अपने और आधुनिक विश्व को समझने की बजाय आधुनिकता की दृष्टि से अपने साहित्य को पढ़ा जा रहा है। अपने काल के संदर्भ में बीसवीं सदी को समझने की बजाय बीसवीं सदी के संदर्भ में अपने काल में से कुछ समसामयिक ढूँढ़ने के प्रयास हो रहे हैं। अपनी कोई तस्वीर बनाकर उसमें आधुनिकता को सही जगह बैठाने की बजाय आधुनिकता की तस्वीर में अपने लिए कोई छोटा-मोटा कोना ढूँढ़ा जा रहा है।

पिछले दो-एक सौ साल से पश्चिम वालों ने भारत के बारे में जानने की कोशिश की है। यहाँ की नीति को, रीति-रिवाजों को, धर्म-शास्त्रों को, आयुर्वेद, ज्योतिष और शिल्प जैसी विद्याओं और विधाओं को, इन सबको समझने के प्रयास पश्चिमी विद्वान करते रहे हैं। जैसी-जैसी उन लोगों की रुचि थी, जैसी उनकी समझ थी, और जैसी उनकी आवश्यकताएं-अनिवार्यताएं थी, वैसा-वैसा कुछ वे भारतीय साहित्य पढ़ते रहे हैं। उनकी देखा-देखी, या कहिए कि उनके प्रभाव में आकर, अपने यहाँ के कुछ आधुनिक विद्वान भी भारतीय विद्याओं और विधाओं में रुचि लेने लगे, और भारत के प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन करने के लिए अनेक नए-नए संस्थान खुलने लगे। महाराष्ट्र में कई ऐसे संस्थान बने। बंगाल में भी बने होंगे। कई नए संस्कृत विश्वविद्यालय भी खुले।

वे सब संस्थान, विद्यालय और विश्वविद्यालय आदि नए तरीके के ही थे। भारतीय विद्याओं को पढ़ने-पढ़ाने की जो पारंपरिक व्यवस्थाएँ हुआ करती थीं उनके साथ इनका कोई संबंध नहीं था। पश्चिम व विशेषतः लंदन के उस समय के विद्या संस्थानों के अनुरूप ही भारत के इन नए

